कक्षायी शिक्षाशास्त्र

उषा शर्मा*

बच्चों के साथ सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में 'रमने' और उसमें 'शामिल होने' का एक अलग तजुर्बा होता है जो किसी भी शिक्षक को यह समझाता है कि बच्चे किस प्रकार सीखते हैं। यह भी कि बच्चों के साथ सीखने-सिखाने की प्रक्रिया को किस प्रकार संचालित किया जाना चाहिए। हमारी कक्षा में लगभग पैंतीस बच्चे तो होते ही हैं और वे अलग-अलग पृष्ठभूमि से आते हैं। उनके परिवेश को समझना भी अत्यंत आवश्यक है। हम बच्चों को उनके परिवेश से अलग करके नहीं देख सकते। बच्चों को समझने के लिए उनके परिवेश को समझना ज़रूरी है और उनके परिवेश को समझने के लिए बच्चों को, उनके अभिभावकों को, उनके समुदाय को समझना ज़रूरी है। कक्षायी शिक्षाशास्त्रों की जाँच-पड़ताल करने के लिए किसी शिक्षक का संवेदनशील होना आवश्यक है। एक बँधी-बँधाई पद्धति सभी बच्चों के लिए कारगर हो — ज़रूरी नहीं है। इस तरह से कक्षा में पहले से कुछ भी तयशुदा नज़र नहीं आता। सबको अपना रास्ता स्वयं ही खोजना होगा।

बच्चे स्वभावतः ही सीखने के लिए उत्सुक रहते हैं। उनके आस-पास का परिवेश और उस परिवेश की एक-एक चीज़ उन्हें अपनी ओर स्वतः ही आकर्षित करती है। फिर चाहे वह कोई सूखा हुआ पत्ता हो, गिरा हुआ पंख हो या फिर किसी बोतल का ढक्कन ही क्यों न हो! किसी टूटी हुई चीज़ को भी उसकी संपूर्णता में देखने का 'हुनर' और 'अहसास' बच्चों में सहज ही देखा जा सकता है। यह भी देखा जा सकता है कि कैसे वे बड़े लोगों की 'बेमतलब' चीज़ों में भी अपना कोई 'मतलब' खोज ही लेते हैं। कई बार ऐसा भी होता है कि कोई नया खिलौना आया नहीं कि पहले उसका 'पोस्टमार्टम' हो जाता है। खिलौने से खेलने से पहले ही वह 'स्वाहा' हो जाता है। उस खिलौने के अस्थि-पंजर' भी यह बताने में नाकाम हो जाते हैं कि वह खिलौना था क्या! दरअसल यह बच्चों का जिज्ञासु स्वभाव है जो उन्हें हर चीज़ को देखने और

**प्रोफ़ेसर,* प्रारंभिक शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., नयी दिल्ली 110016

उलटने-पलटने के लिए प्रेरित करता है। कई बार यह भी होता है कि वे बालू को अपनी छोटी-छोटी मुट्ठी में इस कदर भींचते हैं कि उसे हमेशा के लिए थाम ही लेंगे, लेकिन वह बालू उनके नन्हें हाथों और उन नन्हें हाथों की नन्हीं मुट्ठी में से कब सरक जाती है, पता ही नहीं चलता। इस यथार्थ को जानने और अनुभव करने के बावजूद वे सारी दोपहरी और शाम इसी बालू को 'थामने' के खेल में लगे रहते हैं। यह बालू उनके लिए किसी बारिश की बूँदों से कमतर नहीं रह पाती और वे उसे अपने छोटे-छोटे हाथों से खूब ज़ोर से ताकत लगाकर इस तरह उछालते हैं कि वह ऊपर पहुँचकर वापस उन्हीं पर आ जाती है और वे उस बालू में 'भीगने का आनंद' उठाना नहीं भूलते। बालू से सराबोर उनके चेहरे का सौंदर्य देखते ही बनता है। ये हैं बच्चे और ऐसा होता है उनका बचपन।

बच्चों को किसी भी शिक्षायी प्रक्रिया में शामिल करने से पहले उन्हें जानना और समझना बेहद ज़रूरी है। जब ऐसा नहीं हो पाता तो बच्चे शिक्षायी प्रक्रिया से स्वतः ही 'अनुपस्थित' हो जाते हैं और आरोप आता है बच्चों पर कि वे पढ़ना-लिखना नहीं चाहते। इन्हें तो हर समय बस खेल ही चाहिए। पता नहीं आगे जाकर क्या करेंगे, क्या भाड़ झोकेंगे? आदि, आदि। मैं एक ऐसे बच्चे को जानती हूँ जिसे कोई-न-कोई चित्रकारी करना बहुत पसंद है। जिसे कविता सुनने और गाने में बहुत मज़ा आता है। उसे झट से कोई भी कविता याद हो जाती है। बस वह कविता मज़ेदार होनी चाहिए। ऐसे बच्चे को यदि कक्षा में 'नीरस' काम दिया जाए तो वह उसे शायद ही कर पाए और अगर करेगा भी तो काम को पूरा करने में अपेक्षाकृत बहुत अधिक समय लगाएगा, फिर अपनी 'टीचर' से डाँट खाएगा — काम करने में तो मन ही नहीं लगता जनाब का, बस उछलकूद करवा लो। पिछले जन्म मे बंदर थे क्या? और भी न जाने क्या, क्या...! यह स्थिति केवल स्कूल की ही नहीं है, बल्कि लगभग हर घर में यह 'कलह' देखने-सुनने को मिलती है जो कि बेहद दुखद है। यह भी कहा जा सकता है कि लगभग हर घर और हर शाला की यही स्थिति है। कोई बच्चों को समझने के लिए तैयार ही नहीं है, बस ऑर्डर, ऑर्डर, ऑर्डर।

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा — 2005 में भी कक्षायी प्रक्रियाओं को लेकर अनेक प्रकार की विसंगतियों के प्रति गहरा असंतोष व्यक्त किया गया है। हमारी विद्यालयी व्यवस्था में एक खास तरह का कठोरपन है जो किसी भी परिवर्तन के प्रति सकारात्मक रवैया नहीं अपनाती। सीखना तो हर क्षण होता है, लेकिन विद्यालयी और कक्षायी व्यवस्था सीखने को एक 'विशिष्ट आयोजन' के रूप में देखती है। इससे बच्चों के समक्ष एक द्वंद्व उपस्थित होता है कि विद्यालय में सीखना विद्यालय के बाहर सीखने से अलग है। इस तरह वे अपने किसी भी तरह और कहीं भी सीखने को परस्पर अंतर्संबंधित नहीं कर पाते। हमारी शालाओं में सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में ज्ञान का सृजन और सृजनात्मक चिंतन को बढ़ावा नहीं दिया जाता। शाला में सीखने-सिखाने के नाम पर जो दिया जाता है, वह बच्चों की सृजनात्मकता को अवरुद्ध कर देता है। फिर प्रारंभ होता है 'रटंत विद्या' का, जिसमें मौलिकता और रचनाशीलता नदारद है। इतना ही नहीं, यह भी देखने में आता है कि बच्चों की

आवाज़ व अनुभवों को कक्षा में अभिव्यक्ति नहीं मिलती। प्रायः केवल शिक्षक का स्वर ही सुनाई देता है। बच्चे केवल अध्यापक के सवालों का जवाब देने के लिए या अध्यापक के शब्दों को दोहराने के लिए ही बोलते हैं। कक्षा में वे शायद ही कभी स्वयं कुछ करके देख पाते हैं। उन्हें पहल करने के अवसर भी नहीं मिलते हैं। किताबी ज्ञान को दोहराने की क्षमता के विकास के बजाए पाठ्यचर्या बच्चों को इतना सक्षम बनाए कि वे अपनी आवाज़ ढूँढ सकें, अपनी उत्सुकता का पोषण कर सकें, स्वयं करें, सवाल पूछें, जाँचें-परखें और अपने अनुभवों को स्कूली ज्ञान के साथ जोड़ सकें (राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा — 2005, पृष्ठ 15)। इतना तो साफ़ है कि बच्चों की रचनात्मकता और उनकी आवाज़ को कक्षा में तो जगह देनी ही होगी। वे क्या सोचते हैं, 'ऐसा' या 'वैसा' क्यों सोचते हैं, क्या कारण हैं कि वे कक्षायी प्रक्रियाओं का सक्रिय सदस्य नहीं बन पाते, उनके मन में और आस-पास क्या 'घटता' रहता है जो उनके सीखने को निरंतर प्रभावित करता है — यह सब समझना एक शिक्षक के लिए भी ज़रूरी है और अभिभावक के लिए भी। क्या हम यह कर पा रहे हैं? ज़रा सोचिए!

इस चर्चा से यह भी समझ में आता है कि बच्चों के सीखने-सिखाने की प्रक्रिया को सहज, स्वाभाविक और सार्थक बनाने के संदर्भ में परिवार, परिवेश, शिक्षक और शाला की भूमिका बेहद महत्वपूर्ण है। लेकिन कैसे? यह समझने के लिए आपको मिलवाते हैं — लक्ष्मी से, कादंबिनी (बदला हुआ नाम) से और साक्षी से। ये सभी बच्चे कक्षा एक में पढ़ते हैं। मासूम मन का मासूम जादू! इनके मासूम मन के मासूम जादू ने मुझे बहुत प्रभावित किया है। इनके जैसे और भी बच्चे मेरी छोटी-सी दुनिया का बड़ा-सा हिस्सा हैं। उनके बारे में फिर और कभी...! हम जानते हैं कि सभी में व्यक्तिगत भिन्नताएँ होती हैं और यह बात बच्चों पर भी लागू होती है। आप यूँ समझ लीजिए कि हमारी छोटी-सी कक्षा में एक बड़ी-सी दुनिया होती है। अलग-अलग परिवेश, परिवार और समाजों से आने वाले बच्चों की अपनी अलग-अलग पसंद, नापसंद और भी बहुत कुछ... जो नितांत भिन्न है, एक-दूसरे से। इन अलग-अलग 'दुनियाओं' से आने वाले बच्चों को हम एक साथ पढ़ाते हैं और 'वह भी एक तरीके से।' एक साथ पढ़ाने में तो कोई समस्या नहीं है, बस समस्या है तो यह कि हम उन्हें एक ही पद्धति या तरीके से पढ़ाते हैं या फिर 'हाँकते' हैं। अब इस स्थिति में बच्चों की जगह स्वयं को रखकर देखिए! एक ही बात को या एक ही घटना को हम 'बड़े' एक ही तरीके से, एक ही अर्थ में नहीं लेते। हम सब अपने-अपने पूर्व अनुभवों के सहारे 'नयी-नयी' चीज़ों को समझने की कोशिश करते हैं। किसी एक बात का मतलब भी अलग-अलग ही लेते हैं। यदि कोई आपको और हमें एक ही तरीके से बातों को समझाने की कोशिश करे तो भी हम अपनी अलग ही समझ रखते हैं। हैं ना! तो फिर बच्चों को एक ही तरीके से समझाने, पढ़ाने की कोशिश क्यों करते हैं? ज़रा सोचिए! लक्ष्मी, कावेरी और साक्षी भी एक-सी 'दुनिया' से नहीं हैं। उनकी अपनी-अपनी अलग दुनिया है। लक्ष्मी हंसमुख स्वभाव की है और जब कभी कक्षा में उसकी हँसी 'गायब' होती है तो मेरी

चिंता बढ़ जाती है। कारण साफ़ है कि जब बच्चे अपने स्वभाव से विपरीत व्यवहार करने लगें तो समझ लीजिए कि कहीं कोई 'लोच' है, कहीं कुछ तो 'गड़बड़' है। एक प्रभावी शिक्षक अपने सभी बच्चों के व्यवहार, चेहरे की बदलती हर छोटी-से-छोटी रेखा का पूरा-पूरा ध्यान रखता है। यही उनके शिक्षण की प्रभावशीलता का एक अहम गुण है। विषयों को पढ़ाने के लिए यह ज़रूरी है कि बच्चों के मन को पढ़ा जाए। तभी हम उनके दिल-दिमाग तक पहुँच सकेंगे और उनके मन-मस्तिष्क में क्या घट रहा है — इसे जान सकेंगे जो पुनः बच्चों को पढ़ाने में मदद करेगा। लक्ष्मी की हर ड्रॉइंग 'झोंपड़ी' से शुरू होती है। वह झोंपड़ी को बहुत करीने से बनाती है। उसकी 'झोंपड़ी' में उसके सिवा, उसकी माँ और छोटी बहन के अलावा और कोई नहीं होता; पिता भी नहीं। जबकि वह स्वयं 'झोंपड़ी' में नहीं रहती, बल्कि एक पक्के घर में रहती है, जहाँ उसके अलावा और भी 'अनेक' व्यक्ति रहते हैं। 'लक्ष्मी झोंपड़ी क्यों बनाई? अपना परिवार बनाओ। रसोईघर बनाओ।' मैं लक्ष्मी से बहुत बार कहती लेकिन लक्ष्मी का हर बार यही जवाब होता — "मैम, बना तो रही हूँ।" "यह रसोईघर कहाँ बनाया है? यह तो झोंपड़ी बनाई है।" — मेरी उत्सुकता बढ़ जाती। " मैम झोंपड़ी में रसोई बनाऊँगी ना!" — लक्ष्मी का तुरंत जवाब सुनकर मेरे आश्चर्य की सीमा न रहती कि अंततः लक्ष्मी को 'झोंपड़ी' से इतना विशेष 'लगाव' क्यों है? दरअसल, लक्ष्मी के पिता को शराब पीने की लत है और इसके नशे में अकसर उनकी माँ के साथ हाथापाई हो जाती थी जो लक्ष्मी के मन पर किसी 'गहरे घाव' से कम नहीं है। जब-तब ऐसा होता है तो लक्ष्मी की हँसी गायब हो जाती है और उसका उदास चेहरा मेरे मन को उद्वेलित कर देता है। ऐसे न जाने 'कितने घावों से आहत' लक्ष्मी का मन पढ़ने में लगे तो लगे कैसे? उसके द्वारा बनाई गई झोंपड़ी उसकी अपनी 'नितांत निजी दुनिया' का प्रतीक है, जहाँ उसके पिता के लिए कोई स्थान नहीं है। उसके अवचेतन मन के किसी कोने में पिता से अलग माँ और बहन के साथ रहने की गहरी चाह उसकी 'झोंपड़ी' में प्रतिबिंबित होती है। लक्ष्मी के मन पर लगे गहरे घावों को दूर करने का या उन पर मरहम लगाने का क्या उपाय होगा? जब भी किसी विषय को पढ़ाते समय परिवार का ज़िक्र आता है या पिता के साथ बाज़ार की सैर करने की कहानी सुनाई जाती है तो लक्ष्मी को कैसा लगता होगा? उसका मन कहानी में नहीं लगता और वह 'खामोश-सी' हो जाती है। लक्ष्मी की शिक्षिका को क्या करना चाहिए? सोचिए तो ज़रा!

कादंबिनी (बदला हुआ नाम) पढ़ाई करते समय संघर्ष-सा करती है। उसे चीज़ें अलग तरीके से ही समझ आती हैं, जबकि कादंबिनी की शिक्षिका को पढ़ाने का एक अदद तरीका ही आता है। कादंबिनी लिखने में बहुत समय लेती है और कॉपी पर पेंसिल को गढ़ाकर लिखती है। बहुत मेहनत करती है लिखने में, पढ़ने में और यह समझने में कि हमारे आस-पास के लोगों में इतनी भिन्नता क्यों है? कादंबिनी के चेहरे पर हर समय एक खास तरह का आत्मविश्वास नज़र आता था — जीत ही लेंगे बाज़ी हम। उसके चेहरे का आत्मविश्वास मेरे भीतर गज़ब की उम्मीद भर देता था कि कादंबिनी देर-सवेर सीख ही लेगी। एक

बार दशहरे की छुट्टियों के बाद वह कई दिनों तक स्कूल नहीं आई। रोज़ स्कूल आने वाली कादंबिनी ने जब एक सप्ताह से अधिक छुट्टी ले ली तो मेरे मन के चैन की भी 'छुट्टी' हो गई। क्या कारण था — कुछ पता नहीं चल पा रहा था। फिर एक दिन उस स्कूल की एक शिक्षिका से पता चला कि कादंबिनी ने स्कूल छोड़ दिया। क्यों? वह दूर किसी दूसरी जगह चली गई है। क्यों? उसके पिता ने 'यह' घर छोड़ दिया। क्यों? 'कादंबिनी की मम्मी अपने मोहल्ले के किसी आदमी के साथ भाग गई हैं।' क्यों? मेरे किसी भी 'क्यों' का किसी के पास कोई भी जवाब नहीं था। वास्तविकता क्या है — यह तो कहना मुश्किल है, लेकिन यह वास्तविकता तो साफ़-साफ़ पता है कि इस पूरे 'एपिसोड' से कादंबिनी को बहुत तकलीफ़ हुई होगी — माँ की 'अनुपस्थिति' से, लोगों की सवालिया नज़रों से, अपनी सहेलियों से बिछड़ने, उनसे दूर जाने और फिर कभी न मिल पाने की आशंका से, किसी 'दूसरी माँ' के संभावित 'आतंक' से। पता नहीं कादंबिनी ने नए स्कूल में कैसे 'एडजस्ट' किया होगा? अगर यह कादंबिनी मेरी कक्षा में होती तो मेरी पहली कोशिश होती कि उस भयावह 'एपिसोड' से उसके मानस को मुक्त करना, क्योंकि तभी कादंबिनी पढ़ाई-लिखाई में अपना मन लगा पाएगी। इस संदर्भ में मुझे सूरदास जी के 'भ्रमण' गीत की वह पंक्ति याद आती है जब उद्धव गोपियों को समझाने जाते हैं कि वे निराकार ब्रह्म की उपासना करें और तब गोपियाँ कहती हैं कि 'उधो मन न भए दस बीस...! ताकि अलग-अलग मन से वे अलग-अलग काम कर सकें। कादंबिनी के लिए भी कई मन चाहिए थे, जिससे वह अपनी सिमटी हुई दुनिया के कई काम कर सके, उनमें अपना मन लगा सके। लेकिन यहाँ तो उसके मन को समझने की सलाहियत किसी में नहीं है, उसके 'दस-बीस मनों' को कौन और कैसे समझ पाएगा? क्या करें? कुछ समझ नहीं आता मुझे। शायद कादंबिनी को भी समझ में नहीं आता होगा कि वह क्या करे? किताब खोलते ही सारा 'एपिसोड' उसकी आँखों के सामने जब-तब आ जाता होगा। कहाँ क्या लिखा है — सब गड्डमड्ड हो जाता होगा। ज़रा बताइए कि कादंबिनी पढ़ाई कैसे करे? कैसे परीक्षा दे? क्या करे?

साक्षी वैसे तो चौथी कक्षा की छात्रा थी, लेकिन उसकी क्लास टीचर ने उसे अपनी कक्षा में बिठाने से मना कर दिया था, क्योंकि साक्षी स्कूल से अकसर 'गायब' हो जाया करती थी। क्लास में नहीं 'टिकती' थी। सारा दिन इधर-उधर भागा करती थी। डांटने पर पलटकर जवाब देती थी और कभी-कभी बहुत गुस्सा किया करती थी। लिहाज़ा परिचय के पहले दिन मैं उसे अपनी पहली कक्षा में ले गई। साक्षी चली भी आई। मैंने ईश्वर का धन्यवाद किया और मन-ही-मन यह सोचने लगी कि आखिर साक्षी की 'हकीकत' क्या है? कक्षा का पहला दिन और मैंने बच्चों को अपना-अपना परिवार बनाने के लिए कहा जो लीक से हटकर था। बच्चे चित्र बनाने के नाम पर केवल 'झंडा, झोंपड़ी, केला, आम और कमल का फूल बनाया करते थे। साक्षी ने पहले तो बहुत देर तक चित्र बनाना शुरू ही नहीं किया और जब बहुत 'मनुहार' के बाद चित्र बनाना शुरू किया तो जितने भी चित्र बनाए, उन सबके मुँह उदास और चेहरे उतरे

हुए थे। यह चित्र मेरे लिए बेहद खास था। अलग-सा और बहुत कुछ 'कहने, समझने, बताने, घटने' की संभावनाओं को अपने भीतर समेटे हुए। अगले दिन साक्षी की 'माँ' से बात हुई तो पता चला कि जो माँ साक्षी को रोज़ स्कूल से लेने आती हैं, वे उसकी माँ नहीं, बल्कि मौसी हैं। साक्षी के पिता का भी देहांत बहुत पहले हो गया था और उनके जाने के बाद साक्षी के चाचा ने उसकी माँ को जानबूझकर मार डाला — जलाकर! तब से साक्षी की मौसी साक्षी को और उसकी छोटी बहन गायत्री को पाल रही हैं। साक्षी के जीवन में सब कुछ बदल गया था। समाज के प्रति, परिवार के प्रति उसका आक्रोश और कुछ न कर पाने की अपनी विवशता के कारण उसका व्यवहार आक्रामक हो जाता है। साक्षी के मन पर भी न जाने क्या-क्या अंकित हो गया अभी से। अभी तो बहुत ज़िंदगी पड़ी है उसके सामने और अगर वह इन सब बातों को नहीं भूल पाएगी तो जी नहीं पाएगी। साक्षी से बहुत सोच-समझकर और 'संभलकर' बात करनी पड़ती थी मुझे। यह सलीका भी मुझे साक्षी और साक्षी जैसे कई बच्चों ने ही सिखाया है। साक्षी के साथ विषय की पढ़ाई शुरू करने से पहले उसके जीवन और जगत के बारे में पढ़ना होगा।

लक्ष्मी, कादंबिनी और साक्षी जैसे कई बच्चों की पारिवारिक और सामाजिक स्थिति में तो अंतर है ही साथ ही उनके सीखने के तरीके में भी अंतर है, क्योंकि उनके अनुभव संसार में अंतर है। बच्चों को पढ़ाते समय एक शिक्षक की पकड़ विषय के साथ-साथ बाल मनोविज्ञान पर भी होनी चाहिए। मेरे विचार से पहले मनोविज्ञान, फिर विषय! मनोविज्ञान इसलिए, क्योंकि जिसके साथ 'शामिल होना' है और जिसे 'शामिल करना' है, वह बच्चा ही है। बच्चों के अपने 'मूड स्विंग्स' भी होते हैं। कभी कुछ करना रास आया और कभी नहीं। यह उनकी रुचि और तत्परता पर भी निर्भर करता है। सभी बच्चों की रुचि समान हो — यह भी ज़रूरी नहीं है। क्या हम 'बड़ों' की रुचि समान है? नहीं ना! तो बच्चों की कैसे हो सकती है? है ना विचारणीय? जब संदर्भ विषय का हो तो यह बात समझ में आती है कि विषय में सब कुछ सिखाने की बजाय बच्चों को यह सिखाया जाए कि सीखा कैसे जाता है। जब बच्चों में यह हुनर आ जाएगा तो वे किसी भी स्थिति में किसी भी विषय को सीखने में अपनी सक्रिय भूमिका का निर्वाह कर सकेंगे। प्रत्येक शिक्षक को यह भी समझना होगा कि जिस प्रकार बच्चों की प्रकृति में अंतर होता है, ठीक वैसे ही शाला में 'पढ़ाए' जाने वाले विषयों में भी अंतर होता है। 'विज्ञान में तारीखें नहीं प्रयोगात्मकता महत्वपूर्ण है, तो भाषा में व्यवहार महत्वपूर्ण है।' विषयों का यह प्रकृतिगत भेद इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि इनके भीतर की संरचनाएँ भिन्न हैं और 'बेहद खास' हैं। विषयों के शिक्षण की प्रक्रिया को भी शाला के भीतर नहीं बाँधा जा सकता।

हमें यह भी समझना होगा कि सभी बच्चे सभी क्षेत्रों में समान रूप से निष्पादन या परफ़ॉर्म नहीं कर सकते, क्योंकि सभी का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है और उस विशिष्ट व्यक्तित्व की विशिष्टताएँ भी अलग ही हैं। इसे इस तरह भी समझा जा सकता है कि बत्तख पानी में सरलता से तैर सकती है, लेकिन बहुत ऊँचाई तक चिड़िया की तरह उड़ नहीं सकती।

कछुआ हिरन की तरह तेज़ दौड़ नहीं सकता और मुर्गी न तो मछली की तरह और न ही बत्तख की तरह पानी में तैर सकती है। कहने का मतलब यह है कि सब प्राणियों का अपना-अपना 'स्वभाव' है और वे दूसरों की तरह सारे काम समान स्तर पर नहीं कर सकते। उनके सीखने के तरीके भी अलग ही होंगे। यह बात हमारी कक्षाओं में पढ़ने वाले बच्चों पर भी लागू होती है। एक प्रभावी शिक्षक बच्चों के मन को समझता है, उन्हें उनके समस्त परिवेश और विशिष्टताओं के साथ स्वीकार करता है और सबके लिए 'उनके तरीके की शिक्षण पद्धति' का इस्तेमाल करता है। बच्चों को समझते हुए, उनके व्यवहार और परिस्थितियों को समझते हुए ही कोई निर्णय लिया जा सकता है और लिया भी जाना चाहिए। यही कक्षायी शिक्षाशास्त्र का यथार्थ है और इसे प्रत्येक शिक्षक को सीखकर जीना होगा, अपने शिक्षकीय जीवन में उतारना होगा — लक्ष्मी, कादंबिनी, साक्षी के लिए और उन जैसे 'अनेक' बच्चों के लिए...!